International Journal of Information Movement Vol.I Issue VI (October 2016)
Website: ijim.in ISSN: 2456-0553 (online) Pages 73-80

उपन्यास का मनोविज्ञान से सम्बन्ध एवं स्त्री–पुरुष पात्रों का चरित्र–चित्रण

सुमन रानी
शोधार्थी, पीएच.डी. (हिन्दी),
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

1.0 उपन्यास का मनोविज्ञान से सम्बन्ध :

मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्येता है। मनोविज्ञान परिवेश से सम्पर्क से होने वाले व्यापारों का विज्ञान है।[1] मानव जीवन काल में सामाजिक, राजीनतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा व्यक्तिगत परिवेश से अभियोजन करता है। इस अभियोजन प्रक्रिया से प्राणी की चेतन–अचेतन अनुभूतियाँ तथा शारीरिक क्रियाएँ सक्रिय रहती हैं, जिन्हें सुविधा की दृष्टि से व्यवहार की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसलिए मनोविज्ञान के अंतर्गत इसी व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। "आज मनोविज्ञान का सम्बन्ध मानव व्यवहार के वैज्ञानिक अध्ययन से है जिसे पूर्व में मनोवैज्ञानिक अनुभव के रूप में ग्रहण करते थे।"[2]

सामान्यतः मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण पर्यायवाची समझे जाते हैं लेकिन वास्तविकता यह है कि मनोविश्लेषण मनोविज्ञान का एक सम्प्रदाय (अध्ययन पद्धति) है। यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इनमें अन्तर की एक बारीक सूक्ष्म रेखा खिंची हुई है। मनोविज्ञान मन के कारणभूत व्यवहार का अध्येता एवं व्याख्याता है, तो मनोविश्लेषण उसी मन का विश्लेषण है। प्राणी मन और उसके कारण भूत व्यवहार को समझने के लिए दोनों की ही आवश्यकता है। अतः इनमें परस्पर साधन–साध्य की घनिष्ठता है जिसके परिणामस्वरूप वास्तविकता से ओत–प्रोत है।

वर्तमान साहित्य का सम्पूर्ण धरातल मनोवैज्ञानिक है। आधुनिक साहित्य मनोविज्ञान के नियमों और सिद्धान्तों की परिक्रमा करता है, क्योंकि आज साहित्य में स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म का वर्णन होता है। बाह्य जगत् की चकाचौंध के स्थान पर मानव मन की अन्तर्वेदना मुखारित होती है। आज साहित्य जीवन संघर्ष की मानसिक क्रिया–प्रक्रिया, कुण्ठा, द्वन्द्व, राग–द्वेष इत्यादि मनोविकारों, भावों–अनुभवों, अनुभूतियों का आश्रय गृह है, जहाँ ये प्रश्रयी प्रतिष्ठित होते हैं। इन्हीं से उद्‌भेदित भाव, अनुभूतियाँ तथा संवेदनाएँ रचनाकार के अचेतन में प्रस्फुटित होकर चेतन में पदार्पण करती हैं और भाषा के माध्यम से कलात्मक रूप में अभिव्यक्त होती है। "साहित्य मानव की संवेदनाओं का कलात्मक रूप में अभिव्यक्तिकरण है।"[3] अथवा "साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम से जीवन की अनुभूति है।"[4] यह आवश्यक नहीं कि यह दृष्टि अथवा भुक्त हो परन्तु रचनाकार की यह अनुभूति वैयक्तिक और सार्वजनिक दोनों प्रकार की हो सकती है। साधारणीकरण सिद्धान्त के अनुसार वैयक्तिकता भी सार्वजनिक हो जाती है। यही स्थिति साहित्यकार को रचना प्रक्रिया से संश्लिष्ट कर उसे अभिन्नता प्रदान करती है जिसमें उसकी पूर्णता स्पष्ट दिखलाई देती है।

वस्तुतः रचनाकार की परिवेश जन्य अनुभूतियाँ साहित्य का प्रतिपाद्य है। मनोविश्लेषवाद के जनक फ्रॉयड के अनुसार समस्त रचना प्रक्रिया (कला, कविता इत्यादि) का मूलाधार काम–वासनाओं (दमित इच्छाओं) की आपूर्ति हैं। "मानव की अतृप्त यौन–प्रेरणाएँ उदात्तीकरण की अवस्था में रचनात्मक रूप धारण कर लेती हैं। समस्त सौन्दर्यात्मक प्रसन्नता, जिन्हें हम काल्पनिक रचनाओं के द्वारा प्राप्त करते हैं, पूर्णानन्द तथा साहित्य के वास्तविक रसास्वादन से मन को तनावमुक्त कर देते हैं।[5] उसके अनुसार विश्व की सभी महान कृतियाँ, नाटक, उपन्यास, कहानी इत्यादि मानव मन और उसके व्यक्तित्व के द्वन्द्व की परिणति हैं। अतः यह द्वन्द्व अचेतन में रहता है। एडलर ने साहित्य के लिए 'स्वत्वाग्रह' के भाव का उत्स मानते हुए साहित्य सर्जन को लेखक की हीनता बोध (यह हीनता बोध कायिक भी हो सकता है) को क्षतिपूर्ति की चेष्टा माना है। जुंग रचनात्मक ऊर्जा को जीवन शक्ति मानते हुए भावनात्मक आघात से लेकर प्रमानुभूति

तक रचना प्रक्रिया के लिए उपयोगी मानता है। इसलिए उनके मत से व्यक्तिगत अचेतन से अधिक सामूहिक अचेतन का प्रभाव होता है क्योंकि सामूहित अचेतन मानव जाति से प्रारंभ होता है जिससे सम्पूर्ण मानव सभ्यता तथा व्यक्ति के व्यक्तिगत अनुभव और उसकी मूलवृत्तियाँ संग्रहित होती है। अतः कला मनुष्य की प्रवृत्ति का द्योतक है और कला में साहित्य भी एक कला है जिसमें पूर्णतः है।

यद्यपि विभिन्न विद्वान मनोवैज्ञानिकों ने साहित्यिक रचना प्रक्रिया के मूल तत्त्वों को अपने–अपने विचारानुसार समझने का प्रयत्न किया है लेकिन पूर्णरूप से उसे कोई नहीं समझ सका है। "साहित्य की प्रत्येक क्रिया–प्रक्रिया बाह्य जगत् में घटित न होकर साहित्यकार तथा पाठक के अन्तर्जगत या मानसिक जगत में घटित होती है। अतः साहित्य सर्जन से लेकर आस्वादन तक की भिन्न क्रिया–प्रक्रियाओं को शुद्ध मानसिक प्रक्रियाओं के रूप में स्वीकार किया जाए तो अनुचित न होगा।"[6] यह मानव प्रवृत्तियों में समाहित है।

आज साहित्य की मनोवैज्ञानिक समीक्षा पद्धति सर्वमान्य है और साहित्य समीक्षा में मनोविज्ञान का स्थान महत्त्वपूर्ण रूप से सिद्ध हो चुका है। इसलिए रचना और रचनाकार दोनों को समझने के लिए एक निकष का कार्य करता है, क्योंकि साहित्य मानव–मन के मनोविकारों, भावनाओं, उद्वेगों, संवेदनाओं इत्यादि का लिपिबद्ध उद्‌गीर्ण है। इन्हीं को मनोविज्ञान अपने विभिन्न सम्प्रदायों एवं सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर निष्कर्ष प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार आज साहित्य (जिसकी कहानी एक महत्त्वपूर्ण विधा है) और मनोविज्ञान का प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह मनोविज्ञान सबन्ध ही रचनाकार को शनैः–शनैः कहानी अथवा उपन्यास को पूर्ण करने में सहयोग प्रदान करता है।

वर्तमान काल में उपन्यास आधुनिक साहित्य की एक सशक्त प्रमुख विधा है जिसका आधार मानव मन एवं उसके व्यवहार का मनोविज्ञान है। इसलिए रचनाकार की मानसिक वृत्तियाँ कहानी के स्वरूप को खोजकर उसे आगे बढ़ाती है। "कहानी का यह व्यक्तित्व इतना व्यापक और महान है कि उसकी सीमा में समस्त मानव–व्यापार, उसकी समस्त समस्याएँ, निदान और भाव की स्वीकृति रहती है.... जीवन के आनन्द, समस्त अन्तर्द्वन्द्व, समस्त रस कहानी के विस्तृत क्षेत्र में समाविष्ट हैं।"[7] आज की हन्दी कहानी अथवा उपन्यास जीवन के विभिन्न पार्श्वों को अपने में संश्लिष्ट किए हुए हैं, जो चेतन और अचेतन मन के रहस्यों की पर्तों को खुरचकर मनुष्य के व्यवहार के कारणों को उजागर करती है तथा मनोविज्ञान के निष्कर्ष पर उन्हें रेखांकित कर उनकी विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत करती है। अतः ''कहानी शिल्प नहीं संवेद्य है।"[8] वस्तुतः कहानी अपने सीमित कलेवर में जीवन के आन्तरिक यथार्थ और जीवन रहस्यों का उद्‌घाटन करती है और मनोविज्ञान उनके विश्लेषणात्मक विवेचन में सहयोग करता है। ''कथा विधान स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है, क्योंकि उसमें मनुष्य के बाह्य का चित्रण न होकर उसके अन्तःप्रेरणाओं का अध्ययन, विश्लेषण तथा आलोचना को विशेष स्थान मिला है।''[9] यही पद्धति कहानी की उपन्यास में बराबर देखी जाती है क्योंकि मनोवैज्ञानिक कहानी व्यक्ति के अचेतन मन की एवं उसके पर्यावरण के संघर्ष की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास कर चरित्र की सूक्ष्मता के चित्रण पर बल देती है। अतः उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि आज कह कहानी अथवा उपन्यास और मनोविज्ञान परस्पर ऐसे गुंथे हुए हैं कि उनके पृथक्–पृथक् अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यह वास्तविकता है कि उपन्यास और मनोविज्ञान एक–दूसरे के अभाव में अधूरे हैं। इसलिए उपन्यास के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए रचनाकार की मानसिक प्रवृत्तियों की सूक्षमता का सहयोग अनिवार्य है। ऐसी सूक्ष्म मनोवृत्ति का समावेश नासिरा शर्मा का उनके उपन्यास में देखने को मिलता है।

अतः नासिरा शर्मा की सभी कहानियों एवं उपन्यास मनोविज्ञानाधारित हैं। उनके कथा (कहानी एवं उपन्यास) साहित्य में मनोविज्ञान के अनेक पक्ष पारदर्शी हैं। इसलिए नासिरा शर्मा को विशेष कर नारी–मनोविज्ञान की दृष्टि से उनकी कहानियों एवं उपन्यास को श्रेष्ठ कहा जा सकता है, क्योंकि यह मनोविज्ञान के विभिन्न सम्प्रदायों एवं तत्त्वों तथा सिद्धान्तों की दृष्टि से सम्पूर्ण हैं। वास्तव में नासिरा शर्मा ने स्त्री मन की विरह की स्थिति मानसिकता को स्वयं भी भोगा है, जिसको उन्होंने विस्तृत स्वरूप उपन्यास में प्रस्तुत किया है। इन्होंने देश–विदेश दोनों स्थानों पर देखा है कि स्त्री मन की वेदना भरी मानसिकता कोई

पुरुष नहीं समझ पा रहा है बल्कि वह अपने मनमाने व्यवहार से उस पर हकूमत चला रहा है। ऐसी मानसिक मनोवृत्तियों की द्वन्द्वात्मक स्त्री की स्थिति की अनुभूति का चित्रण मनोविज्ञान के धरातल पर लेखिका ने उपन्यासों में किया है।

2.0 स्त्री–पुरुष पात्रों का चरित्र–चित्रण और मनोविज्ञान :

साहित्य को विभिन्न तथ्यों के आधार पर मूल्यांकित एवं विवेचित करने की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। इसलिए विभिन्न आलोचक (तत्वज्ञ) कथा साहित्य को शास्त्र द्वारा निर्धारित तत्त्वों के आधार पर विश्लेषित करने की प्रथा का अनुपालन करते रहे हैं। समकालीन उपन्यासों में मनोविज्ञान के समन्वय से कथा और चरित्र का एकीकरण हो जाने से इस परम्परा में परिवर्तन आया है। कथा साहित्य के परमपरागत शास्त्रीय विभिन्न तत्त्वों में से 'पात्र' और उनका 'चत्रि' ऐसे अनिवार्य प्रमुख तत्त्व हैं, जिनके आधार पर उपन्यासों में पूरी कहानी का ढांचा निर्मित होता है जिसके आधार पर उसकी श्रेष्ठता निर्भर करती है। ऐसी स्थिति में स्त्री–पुरुष पात्रों के चरित्र की सूक्ष्म मनोवृत्तियों से पहचान स्पष्ट हो जाती है।

'पात्र' किसी उपन्यास का केन्द्र बिन्दु होता है। इसी के माध्यम से मन के रहस्यों एवं संवेदनाओं की पर्तें खुलती हैं जिससे कथा में गतिशीलता आती है। अतः पात्र के अस्तित्व के साथ कथा के अन्य तत्त्व भी संश्लिष्ट रहते हैं जिनके सहयोग से कथा का विकास होता है। उपन्यासकार के द्वारा किए गये पात्र के सफल चरित्र चित्रण पर किसी कथा की सफलता–असफलता निर्भर करती है। यहाँ पर यह तथ्य देखना भी अति आवश्यक है कि आज कुछ कथाओं में पात्र व्यक्तिवाचक संज्ञा के स्थान पर पुरुष वाचक संज्ञा 'वह', 'वे' इत्यादि के रूप में चित्रांकित किए जाते हैं। आजकल के उपन्यासों में ऐसी स्थिति से अवगत हुआ जा रहा है।

'पात्र' है क्या? स्थूल रूप से पात्र उसे कहते हैं जो कथा की घटनाओं से प्रतिबद्ध होता है अथवा घटनाएँ जिसकी परिक्रमा करती हैं। ''कथाकार आत्माभिव्यक्ति के लिए शब्द मूर्तियों का निर्माण करता है, उन्हें नाम और लिंग प्रदान करता है, उन्हें अनुभव देता है, उनसे वार्तालाप करता है तथा घटनाओं के अनुरूप व्यवहार कराता है यही पात्र है।''[10] इसमें संजीवता बन जाती है।

पात्र जिन गुण–दोषों को धारण करता है वह उसका चरित्र है। चरित्र के द्वारा जीवन की विशिष्ट अनुभूति को चित्रांकित किया जाता है। चरित्र कथा साहित्य का एक ऐसा अनिवार्य प्रमुख तत्त्व है जिसकी कथा के विकास क्रम में एक अहम महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। ''कार्य व्यापार की आन्तरिक शक्तियों की संश्लिष्टता द्वारा चेतन मनःस्थिति का ज्ञान कराना चरित्र है।''[11] अतः मनःस्थिति के अनुरूप किया जाने वाला व्यवहार ही चरित्र है। ''बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों की सम्मिलित प्रक्रिया अर्थात् अन्तःकरण से ही मनुष्य का विकास होता है और वह विकासोन्मुख अन्तःकरण ही पात्र का मूल चरित्र है।''[12] इस प्रकार पात्र का स्वभाव, उसकी प्रवृत्ति, प्रकृति एवं आचरण का चित्रांकन ही पात्र का चरित्र है। यह उपन्यासों में पात्रों के गुण–दोष से उसकी अभिव्यक्ति से आंकलन किया जा सकता है।

प्राचीन उपन्यासों के पात्र रचनाकार की काल्पनिक रचना (सृष्टि) होते थे। ये रचनाकार के मनःस्यूत मानस पुत्र होते थे, जिनका चरित्र–निर्माण भी पूर्व निर्धारित रूपरेखा के अनुसार किया जाता था। अतः ये कलाकार के हाथ की कठपुतली थे, ''जो तत्कालीन समाज के परम्परागत रूढ़िवादी निर्धारित रीति–रिवाजों, मान्यताओं एवं मूल्यों की आदर्शोन्मुखी मर्यादाओं की शृंखलाओं में जकड़े हुए एक सीमित चार–दीवारी में कैद रहते थे, जिन्हें लाँघने का दुःसाहस वे नहीं कर पाते थ, क्योंकि स्वयं रचनाकार विभिन्न बंधनों एवं मर्यादाओं–जातिच्युत, सामाजिक बहिष्कार (हुक्का–पानी बन्द) इत्यादि के भय से त्रस्त रहता था, जिसके कारण वह स्वयं और अपने 'सीता राम' रूपी पात्रों को तत्कालीन समाज की मर्यादित मान्यताओं, मूल्यों और रूढ़ियों की 'लक्ष्मण रेखा' को पार नहीं करा पाता था।''[13] अतः ऐसे 'पात्र' संवेदनहीन 'स्थिर' पात्र होते थे और इसलिए उनका 'चरित्र' भी जड़ होता था। ये पात्र न तो किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व कर पाते थे, न समाज को कोई संदेश दे पाते थे और न ही पाठक के मन को द्रवित कर उसके मन पर अपने चरित्र की कोई छाप छोड़ पाते थे। यही कारण है कि उस समय की कहानियों की कथा में एक नीरसता, एक

उबाऊपन और गतिहीनता बनी रहती थी। यह पाठक मन को उससे जोड़ पाने में लगभग असफल ही रहती थी।

स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों और विशेषकर आधुनिक उपन्यासों का 'पात्र' और उसका 'चरित्र' तत्कालीन लीक से बेलीक होकर रूढ़िग्रस्त परम्पराओं, मर्यादाओं और मूल्यों को ठुकराकर समयानुकूल परिस्थितियों के आलम्बन के साथ इतना प्रबल और प्रखर होकर उभरा है कि वह स्वयं वस्तु (कथानक) का कथ्य बन गया है। इसलिए इस क्रान्तिकारी प्रक्रिया से कथा में विकासगति का प्रादुर्भाव हुआ है। " 'पात्र' जीवन्त हो उठे और 'चरित्र' वास्तविक। चरित्र और कथ्य के परावलम्बन ने पात्र को समष्टिरूप प्रदान किया। स्वतन्त्र इकाई से वे समष्टिमूलक हो गए। चरित्र घटना की निश्चियात्मकता है और घटना चरित्र का मूर्तिकरण।"[14] इस प्रकार ''आधुनिक युग की कहानियों में चरित्र और वस्तु के एकात्मीकरण ने कथ्य को चरित्र और चरित्र को तथ्य में रूपान्तरित कर उसे एक प्रक्रिया के रूप में स्थापित किया है। कहानी की गति और नियति कहानी का चरित्र बन गई।''[15] यह समाज की वास्तविकता के तथ्यों को उजागर करने के बहुत पास आ गये हैं।

आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में चरित्र चित्रण ही कहानी का कथानक बन गया है। ''कथानक का ह्रास संसार भर की कहानियों में दृष्टिगोचर होता है किन्तु उसकी क्षतिपूर्ति पात्र के चरित्र, उसके मन के कुरेदने और उसके व्यक्तित्व को उभारने में हो जाता है।''[16] इस चरित्र चित्रण की प्रवृत्यात्मकता ने पात्र को रचनाकार के चंगुल से मुक्त कर उसे समाज और वातावरण सापेक्ष बनाकर उन्मुक्तता की भूमि पर खड़ा कर दिया है। वे रूढ़िवादी संस्कार युक्त कृत्रिम 'फ्रेम' से निकलकर यथार्थ के 'चौखटे' में प्रतिष्ठित होने लगे, जिसने उन्हें विश्वसनीयता, प्रामाणिकता तथा स्वाभाविकता प्रदान की है। साधारीणकरण की इस प्रक्रिया ने पात्र, उसके चरित्र और अध्येता के मध्य एक विश्वास पैदा किया है जिसके फलस्वरूप पाठक के मन में उसके प्रति एक आत्मीयता और सहानुभूति की भावना जाग्रत हुई है। इस तरह से देखा जाए तो कथा साहित्य के तत्त्वां की इस समष्टिवृत्ति से मानव के जीवन–दृष्टिकोण में आमूल–चूल परिवर्तन आया है, इसके कारण ही उसमें एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ है। दकियानुसी जीवनधारा, मूल्यों, नीतियों, श्रद्धा, विश्वास, विचार और अनुभूतियों को खण्डित–विखण्डित कर उन्हें नवीन दृष्टिकोण के साथ ग्रहण करने की प्रेरणा के लिए एक नवीन चेतना, नवीन प्रज्ञा और संवेदनशील अनुभूति की प्रग्लभता का उसमें विकास किया है। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप मानव जीवन की समस्त विसंगतियों का चित्रण आज की कहानी में स्वाभाविकता के साथ सम्भव हो सका है और उसके अन्त को विकासात्मक सार्थकता प्राप्त हुई है। इस प्रकार चरित्र–चित्रण–प्रणाली बहिरंग के स्थान पर अंतरंग में परिवर्तित हो गई है, जिसमें पात्र की स्थूलता के स्थान पर अन्तःप्रेरणा और उसके मनोभावों आदि उपदानों का विश्लेषण किया जाने लगा है।

स्त्री और पुरुष दोनों ही विधाता की रचना है, परन्तु लिंग भेद के आधार पर समाज में नारी के साथ भेदभाव करते हुए उसे दोयम स्थान पर बैठा दिया है जिसके परिणाम स्वरूप कथाकार भी इस प्रवृत्ति से वंचित नहीं रह सका है। एक ओर स्त्री को रागानुभूति की प्रेरक शक्ति मानकर उसका साहित्य में वर्णन किया गया है तो दूसरी ओर उसके निकृष्ट रूप को बड़ी शिद्दत के साथ उभारने में कोई कोर–कसर नहीं छोड़ी गई है। सामाजिक प्राणी होने के कारण कथाकार ने स्त्री के चरित्र–चित्रण में समयानुकूल प्रवृत्तियों का सहारा लिया है। प्राचीन साहित्य में स्त्री देवी, प्रेरणा स्त्रोत, सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति, प्रेम की अधिष्ठात्री इत्यादि सत्रूपों में उभरकर आई है। वैदिक साहित्य में उसे लावण्यमयी नारी के रूप में चित्रित करते हुए उसे 'उषा' के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है परन्तु उसके स्थिर एवं भावात्मक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा उसके अंग–विन्यास के वर्णन में हुई है। साहित्य सामाजिक परिस्थितियों एवं व्यवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिए संहिता और ब्राह्मण में वह लौकिक जीवन का अंग बन गई है तो रामायण में आदर्शमयी मर्यादा की सीमा में प्रतिबंधित है जिसकी सम्पूर्ण गति पति में है। उसके लिए पति देवता, धर्मगुरु और संरक्षक सभी कुछ है। उसके स्थूल सौन्दर्य वर्णन के साथ निन्दनीय पक्ष भी चित्रित कर उसके असत् रूप को भी पूरे मनोयोग से उभारा गया है। महाभारत में स्त्री मानवीय है। धर्मशास्त्रों में स्त्री का सत् और असत् दोनों रूपों का वर्णन हुआ है। पुराणों में स्त्री एक वस्तु के रूप में उभर कर आई है, तो वीरगाथा काल में वह शुद्ध

कामोपभोग मात्र की वस्तु बन कर रह गई है जिसके लिए नृपति परस्पर युद्धरत रहते थे। भक्तिकाल में वह माया एवं विराशकारिणी बन गई है तो साथ ही साथ यत्र–तत्र उसके उदात्त रूप का वर्णन भी है। अतः अन्ततोगत्वा वह विलासिता की मूर्ति ही है। रीतिकाल में उसके सत् और असत् दोनों रूपों की व्यंजना लौकिक प्रेम–चित्रण में उसके नख–शिख के स्थूल सौन्दर्य वर्णन में हुई है। यहाँ उसके भावात्मक सौन्दर्य की पूर्णतः नृसंश हत्या कर दी गई है। यही स्थिति कमोवेश द्विवेदी युग में भी बनी रही, परन्तु मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध जैसे महान् कवियों ने उसके परमोदात्त स्वरूप को उभारने का सफल प्रयास अवश्य किया है। परन्तु अधिकांशतः वह यहाँ भी दीन–हीन ही बनी रही है। इसलिए छायावादी स्त्री ने इन दीवारों में सेंध लगाना आरम्भ कर दिया जहाँ पर उसका पुरुष विरोधी स्वर मुखर हुआ। उसके श्रृंगारिक रूप को खण्डित–विखण्डित कर एक अभिनव रूप में प्रतिपादित करने का प्रयत्न आरम्भ हो गया। वह यहाँ पर जीवन के वास्तविक संघर्षों से पृथक् 'श्रद्धा' के रूप में प्रकट हुई। स्थूल के प्रति सूक्ष्म के विद्रोह ने उसके अंतस के सौन्दर्य को तेजस्वित किया जिसके कारण उसके वासनात्मक रूप के साथ उसके उदात्त रूप के दर्शन भी होने लगे। उसकी विरह–वेदना मुखर होकर अभिव्यक्त होने लगी। इसके लिए कवि को चाहे प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोपण एवं अन्योक्ति तथा विभिन्न प्रतीकों का आश्रय ही क्यों न लेना पड़ा हो। उसे भोग मात्र की वस्तु से ऊपर उठाकर उसे प्रेमिका, प्रेरिका, सहधर्मिणी, सुख–दुख की सहभागिनी बनाकर उसके विशद् आन्तरिक गुणों और भावों की उदात्तता आदि का वर्णन कर उसे एक अभिनव स्वरूप प्रदान किया गया है। वह स्वयं उपभोक्ता के रूप में प्रतिष्ठित होकर जीवन के सुन्दर समतल में पीयूष स्त्रोत सी बहने लगी और नग–पग–तल में आत्मविश्वास के साथ खड़ी हो गई। इसी कारण प्रसाद की कहानियों की स्त्री पात्र समाज के रूढ़िवादी पुरुषों द्वारा निर्मित बन्ध न रूपी श्रृंखलाओं की कड़ियों में चटखन डालने लगती है और स्त्री विराधी रीति–रिवाजों तथा मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह की आवाज बुलंद करती है और स्वतन्त्रता का परचम फहराती है। प्रेमचन्द की स्त्री पुरुष के पार्श्व को तोड़कर उन्मुक्त विचरण करना चाहती है। सम्भवतः इसका कारण तत्कालीन सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव था परन्तु वह आदर्शोंमुखी यथार्थवाद के पल्लू को झटकने में अपने आपको पूर्णतः तैयार नहीं कर पाई। अतः उनमें स्त्री विरोधी बन्धनों के जुए को उतार फेंकने की छपपटाहट अवश्य ही दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि उनकी कहानियों में मनोविज्ञान के बीज का वपन अवश्य हो चुका था फिर भी उनके पात्र आदर्श और यथार्थ के मध्य द्वन्द्वात्मकता लिए हुए त्रिशंकु की स्थिति धारण किए हुए हैं। सम्भवतः इसका कारण तत्कालीन समाज की सांस्कृतिक एवं धार्मिक बाध्यताएँ थी जिसे स्वयं प्रेमचन्द लांघने का साहस नहीं जुटा पाये। तत्कालीन कहानियों में स्त्री के चरित्र चित्रण में कहानीकार की यही विवशता थी लेकिन प्रकारान्तर से स्त्री की नैसर्गिक मानवीय संवेदना और अंतस भावों को उभारने की प्रवृत्ति का बोध अवश्य है। "प्रगतिवाद में स्त्री समस्त शोषणात्मक प्रतिबंधों के विरुद्ध विद्रोह का बिगुल फूंक देती है।"[17] यही विद्रोह भावना आगे चलकर उपन्यासों में तीव्र होकर यथार्थ रूप धारण कर लेती है। ऐसे उपन्यासों में प्रमुख रूप से सामान्य जीवन जगत की कहानियाँ हैं। इसलिए उसके स्त्री पात्र भी सामान्य जगत के ही हैं जो वातावरण सापेक्ष होने के साथ सन्दर्भयुक्त हैं। वे उपन्यासकार के द्वारा गढ़ी हुई नहीं है। इन उपन्यासों की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि एवं परिपार्श्व मनोवैज्ञानिक हैं, जिसने परिस्थिति के अनुकूल स्त्री के चरित्र–चित्रण में आमूल–चूल क्रान्तिकारी परिवर्तन कर उसे एक नवीन दिशा और एक नया बोध प्रदान किया है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों ने स्त्री और पुरुष के सबन्धों को एक नवीन दृष्टि और अर्थ दिया है जिसने स्त्री चरित्र के नये मापदण्ड स्थापित कर उसे मापने के लिये नये पैमाने का विस्तार किया है। आज स्त्री के चरित्र–चित्रण के इसी आयाम ने कथानक और चरित्र को अभिन्न कर दिया है। परिवर्तित परिष्कृत मूल्यों एवं मान्यताओं के प्रभाव से पर्यावरण में परिवर्तन हुआ है जिसने प्रत्येक मोर्चे पर स्त्री के स्वतन्त्र अस्तित्व को एक नवीन भावार्थ दिया है। समाज में जिसके फलस्वरूप स्त्री–चित्रण के नये–नये रूप सामने आये हैं। परस्पर आत्मीय सम्बन्धों की टूटन और बिखराव, उनके नये वृत्तों में ढलने की प्रक्रिया, शिक्षा का विस्तार, आर्थिक रूप से स्वावलम्बन, आधुनिक जीवन–पद्धति से उद्भूत सोच और स्वावलम्बन से बढ़ता

आत्मविश्वास इत्यादि ने स्त्री के चरित्र में सूक्ष्मता को अंकुरित कर उसे व्यापक स्तर पर अभिव्यक्ति प्रदान की है। आज समाज में उसका अस्तित्व बराबर बना हुआ है।

इक्कीसवीं शताब्दी के अन्तरिक्ष युग में स्त्री जहाँ एक ओर प्रत्येक स्तर पर स्वतन्त्रता की अनुभूति से उद्वेलित है, वहाँ दूसरी ओर वह दहेज, निःसन्तान, टूटते–बिखरते पारस्परिक सम्बन्धों, तलाक, उन्मुक्त काम, वैवाहिक जीवन से इतर पर–पुरुष सम्बन्धों, प्रेम–सम्बन्ध, प्रेम–विवाह इत्यादि आधुनिक समाज में बढ़ती उच्छृंखलता आदि से कुण्ठित, त्रस्त और डिप्रेस्ड है। आज इनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या ने कहानी को यथार्थवादी धरातल प्रदान कर स्त्री को स्त्री बना दिया है, जिसने स्त्री चरित्र को एक नया अर्थ बोध दिया है। इस विवेचन से यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि साहित्य समाज से वार्तालाप करता है। उससे अन्तःक्रिया करना चाहता है। साहित्य की यही जीवन्तता सामाजिक चोला धारण कर चरित्र–चित्रण के माध्यम से प्रकट होती हे जिसका स्वरूप परिलक्षित है।

मनोविज्ञान का सीधा सम्बन्ध मन से है। वह मन से उद्भूत मानसिक स्थिति एवं आंगिक हाव–भाव तथा व्यवहार का अध्ययन कर उसे समझने का प्रयास करता है। मानव व्यवहार ही मानव–चरित्र है। साहित्यकार पात्र के चरित्र पर इन्हीं मनोवैज्ञानिक प्रभावों को पकड़ता है जो जीवन की क्रिया–प्रतिक्रियाओं को परिचालित करते हैं। वास्तव में आज का उपन्यासकार मनोविज्ञान की सहायता से स्त्री–चरित्र को समझना चाहता है। इस प्रकार चरित्र और मनोविज्ञान का पारस्परिक प्रगाढ़ सम्बन्ध है। "उपन्यासकार पात्रों की मानसिकता से जुड़ा हुआ अपने को कहीं–कहीं अवश्य ही पाता है तभी वह उनका चरित्र निर्माण कर पाता है।"[18]

फ्रॉयड के अनुसार मन के तीन स्तर हैं–चेतन, अर्द्धचेतन और अचेतन जिनका व्यक्ति के व्यवहार से सीधा सम्बन्ध है। इसलिए पर्यावरण और परिस्थितियों के प्रभाव से मानव व्यवहार निर्मित होता है और व्यवहार से ही क्रिया–प्रतिक्रिया होती है, जो चरित्र की द्योतक है। मनोविज्ञान इसी चरित्र का अध्ययन कर निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। व्यक्ति का चरित्र मनोभावों और विचारों के संवाहक होता है। मनोविज्ञान जीवन की विविध परिस्थितियों के प्रति प्राणी की सभी प्रकार की प्रक्रियाओं, समयोजन, कार्य कलापों, आचरण तथा मानसिक अभिव्यक्तियों से है जो चरित्र–निर्माण के विभिन्न अवयव हैं। अतः मनोविज्ञान भावों और विचारों तथा उसके परिणामस्वरूप होने वाले बाह्य आचरण और आंगिक क्रियाओं के मध्य कार्य–करण सम्बन्ध स्थापित कर व्यक्ति के चरित्र का अध्ययन करता है। इससे उसका चरित्र स्पष्ट हो जाता है कि वह कैसा पात्र है।

स्त्री और पुरुष में शरीर विज्ञान तथा शरीर रचना की दृष्टि से ही अन्तर नहीं होता वरन् मनोवैज्ञानिक रूप से भी उसके व्यक्तित्व और व्यवहार में अन्तर पाया जाता है। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों और अनुसंधानों के अनुसार व्यक्ति के विशिष्ट लक्षण एवं मान्यताएँ व्यक्तिपरक हैं। स्त्री में सहिष्णुता, सामाजिकता, ईर्ष्या, सहयोग, धैर्य, वात्सल्यता, संवेदनशीलता एव लज्जाशीलता और आश्रयी वृत्ति इतयादि भावनाएँ एवं गुण होते हैं। जबकि पुरुष में इसके विपरीत गुण एवं विशेषताएँ होती हैं। "समाज का कोई भी संगठित समाज ऐसा नहीं है जो अपने सदस्यों की स्थिति और कार्यों के अन्तर को स्वीकारता न हो। प्रत्येक समाज के उसके सदस्यों की स्थिति कतिपय अंशों में यौन–भेद, आयु तथा रूप–रंग जैसे शारीरिक, भौतिक अन्तरों पर अवलम्बित हैं। इसके साथ ही सम्पूर्ण सांस्कृतिक कारकों द्वारा निर्धारित वैवाहिक, आर्थिक, धार्मिक तथा अन्य स्थिति भेद भी महत्त्वपूर्ण भेद होते हैं। संसार की प्रायः हर संस्कृति में स्थिति और कार्य का अन्तरावलम्बन पाया जाता है।"[19]

फ्रॉयड के अनुसार भी पुरुष और स्त्री के स्वाभाविक गुणों में जन्म से अन्त होता है। इसलिए पुरुष और स्त्री की शारीरिक रचना के साथ–साथ उनकी प्रवृत्तियों में भी जन्मजात अन्तर होता है। वस्तुतः स्त्री स्वभाव में व्याप्त ईर्ष्या एवं हीन भावना पुरुष की अपेक्षा उसकी मानसिकता को विशेष रूप से प्रभावित करती है। सामाजिक रूचि एवं प्रवृत्तियों के उन्नयन केक परिप्रेक्ष्य में नारी कम उत्तेजक, कम निडर, परतन्त्र, अधिक ईर्ष्यालु तथा अधिक प्रवृत्यात्मक होती है। अतः कुछ मनोवैज्ञानिक स्त्री को पुरुष से हीन मानते हैं

और उनकी दृष्टि में स्त्री भावनामयी एक संवेदनशील ऐसी सृष्टि हैं जिसमें पुरुष की अपेक्षा बुद्धि कम होती है। यद्यपि यह तथ्य आज अमान्य हो चुका है फिर भी अन्तर है।

वास्तव में देखा जाए तो शारीरिक रूप से स्त्री लज्जाशील, एक संवेदनशील ऐसी रचना है जिसके नेत्रों में शीघ्र अश्रु आ जाते हैं। इसके विपरीत संस्कृतिवादी मनुष्य के जन्मजात गुणों पर पर्यावरण का प्रभाव मानते हैं। अस्तु स्त्री और पुरुष में भिन्नता केवल शारीरिक रचना के आधार पर ही नहीं है, वरन् उसके व्यक्तित्व पर संयुक्त रूप से प्रभाव पड़ता है, जिसके अनुसार एवं अनुरूप उसकी मानसिकता का निर्माण होता है। यह स्थिति मनोविज्ञान की धरातलीय पद्धति पर आधारित स्वीकार की जाती है।

मनोविज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है जिसके परिणामस्वरूप समकालीन हिन्दी उपन्यास–कहानी (नई कहानी) मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण शाखा से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित है। पात्र की प्रवृत्तियों, परिपार्श्विक बाधाओं तथा बाधा जनित ग्रन्थियों के मनोवैज्ञानिक वर्णन में उपन्यासकार फ्रॉयड, एडलर और जुंग के मनोविश्लेषण सिद्धान्तों से ही अधिक प्रभावित हैं। इसलिए पात्रों के शारीरिक क्रिया–कलापों के साथ–साथ उसकी मानसिक स्थिति उसके अनुसार उसके अन्तर में उठने वाली तरंगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आज उपन्यासकार करता है। समाज में पात्रों में से भी स्त्री पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण विशिष्ट रूप से किया जाता है। इस संबंध में बहुत से उपन्यासकारों के उपन्यास देखे जा सकते हैं।

मानव का अन्तर्मन बाह्य जगत से प्रभावित होता है तथा उसका प्रतिक्रियात्मक भाव बाह्य जगत को प्रभावित करता है। इस प्रकार अन्तर्जगत और बाह्य जगत दोनों परस्पर क्रिया–प्रतिक्रिया के द्वारा एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसलिए उपन्यासों में इसी क्रिया–प्रतिक्रिया का चित्रण बराबर किया जा रहा है, जिससे वह अभिव्यक्त हो रहा है।

अतः सृष्टि की अनुपम रचना स्त्री मानव व्यक्तित्व में एक अहम् स्थान रखती है और वह स्त्री मन रहस्यों की परतों से आवेष्टित है। इन रहस्यमयी परतों के नीचे एक ओर जहाँ ममता, वात्सल्य, प्रेम, करुणा की शीतल ज्योत्स्ना ज्योतिर्मय है वहीं दूसरी ओर घृणा, तिरस्कार, रोष–प्रतिरोष, प्रतिशोध इत्यादि उद्वेगात्मक भावनाएँ प्रचण्डित हैं जिन्हें समझना दुष्कर है। आज पुरुष उपन्यासकारों की अपेक्षा स्त्री कथाकारों ने स्त्री मन को अधिक गहराई से समझने का प्रयास किया है और उसके चरित्र को उद्घाटित करने की भरपूर चेष्टा की है, घायल की गति घायल जाने। श्रीमती नासिरा शर्मा ऐसी ही महिला कथाकारों में अग्रणी रचनाकार हैं जिन्होंने मनोविज्ञान के विभिन्न पक्षों के आधार पर स्त्री मन पर चिपकी परतों को खुरचने में सफलता प्राप्त की है।

उनके कथा साहित्य में स्त्री मन के विश्लेषण में मनोविज्ञान की विभिन्न सुरक्षा युक्तियाँ–दमन, कुण्ठा, प्रतिस्थापना, प्रक्षेपण, आडिपस ग्रन्थि, स्वप्न विश्लेषण, प्रतिक्रियाकरण इत्यादि की पृष्ठभूमि पर पारिवारिक, आर्थिक, वैचरिक, सामाजिक आदि दृष्टि से चरित्रांकन प्राप्त होता है। साहित्यकार का लक्ष्य समय एवं वातावरण सापेक्षता के अनुसार पात्र का चरित्रांकन करना है। श्रीमती नासिरा शर्मा की तूलिका से स्त्री चित्रण में यही 'सापेक्षता' क्रान्ति रूप में परिलक्षित होती है। माता के लिए संतान उसके जीवन का अमूल्य ग्रन्थ है जिसकी रचना पुरुष के प्रति तन–मन से आत्म समर्पण के द्वारा ही सम्भव है परन्तु आज तक यह 'समर्पण' यज्ञ की पूर्ण आहुति नहीं बन पाया है तो इसमें दोष स्त्री का न होकर समाज का है।

इसी प्रकार के यथार्थ मनोभावों की पृष्ठभूमि पर श्रीमती नासिरा शर्मा जी का सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य तटस्थता के साथ अंकित है तथा साथ ही साथ पुरुष की अहंकारवादी मनोवृत्ति को भी श्रीमती नासिरा शर्मा जी ने दर्शाया है।

3.0 संदर्भ सूची :

1. Psychology, R.S. woodworth. P. 20
2. Psychology today concerns itself with the scientific investigation of behaviour including from the stand point of behaviour much of what earlier psychologists dealt with as experience, psychology fundamentals if human adjustment, N.I. Munn, P. 23
3. डॉ. रामकुमार वर्मा, साहित्यशास्त्र, पृ. 10

4. Hudson, introduction to the study of literature, P.10
5. Sigmaund Freud, the relation of the poet to day dreaming, collected papers, Vol. 17
6. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, रस सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृ. 208
7. डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल, हिन्दी कहानी की शिल्प विधि का विकास, पृ. 348
8. जैनेन्द्र, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ. 251
9. डॉ. ब्रह्मदत्त शर्मा, हिन्दी कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ. 381
10. E.M. Foster, Aspect of Novel, P. 44
11. Cleanth Brooks, Understanding fiction, P. 656 (A Charecter is a complex potentialities for action.
12. डॉ. रणवीर रांग्रा, हिन्दी उपन्यास में चरित्र का विकास, पृ. 44
13. इन्द्रनाथ मदान, हिन्दी उपन्यास : एक नयी दृष्टि, पृ. 47
14. Henry James, the art of the novel, P. 128
15. श्रीकान्त वर्मा, नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति, पृ. 150
16. डॉ. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक कहानी का परिपार्श्व, पृ. 94
17. डॉ. त्रिभुवन सिंह, हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ. 38
18. डॉ. मक्खनलाल शर्मा, हिन्दी उपन्यास और समीक्षा, पृ. 167
19. डॉ. श्यामचरण दुबे, मानव और संस्कृति, पृ. 188